

यह खेल खत्म करो कशियाँ बदलने का
(आदिवासी विमर्श सपने संघर्ष और वर्तमान समय)

अभिषेक कुमार गौर

सि याह रात नहीं लेती नाम ढलने का

यही वो वक्त है सूरज तेरे निकलने का
कहीं न सबको संमदर बहाकर ले जाए

ये खेल खत्म करो कशियाँ बदलने का ”1

आज के समय एवं समाज का मूल्यांकन करे तो हम देखते हैं कि यह फर्क करना मुश्किल है कि भूमण्डलीकरण ने इस पर अपना प्रभाव डाला या अपना प्रकोप फैलाया। वास्तव में इसकी जगमगाहट आँखों में चुभती सी मालूम होती है। एक तरफ समाज क्रान्तिकारी परिवर्तनों का गवाह बना रहा, वहीं एक समाज ऐसा भी रहा जो गौरवहीन, गतिहीन और निष्क्रिय बना रहा। इस समाज की पहचान कभी सम्मानजनक नहीं रही बल्कि उसे (बर्बर), हिंसक, असभ्य, गंवारू पंरपरा का ही माना गया तथा इसे मुख्यधारा से अलग ही रखा गया ना ही सभ्य समाज ने इसे अपना हिस्सा माना और न ही इस समाज ने कभी स्वयं सभ्य समाज में शामिल होने की चेष्टा ही की। इस आदिवासी समाज का आहत इतिहास आज भी हमारे सामने उपलब्ध है और अपने साथ हुए इस सौतेले व्यवहार पर सवाल उठाता है:-

“रोशनी की हमारी खोज खत्म हो चुकी है।

अब हम अंधेरा ही ओढते बिछाते हैं।

हमारे हिस्से अंधेरा ही आया है

और अब उसी में अपना काम निकालना सीख
गये हैं

अंधेरो के अलावा रोशनी का भी ”2

उत्तर आधुनिक समय वंचितों का मुक्ति संग्राम कहा गया। आधुनिकता में परंपरागत शोषक वर्ग ने अपने चोले को बदलकर नया रूप ले लिया और शोषण का क्रम बदस्तूर जारी रहा है। दलित वर्ग दलित ही बना रहा। अतः उत्तर

आधुनिकता ऐसे लोगो की आवाज थी, जिन्हें अब भी अपनी बेहतर जिन्दगी का इंतजार था। इसी घटनाक्रम ने विभिन्न विमर्शों को जन्म दिया, जिनमें से एक आदिवासी विमर्श था। आदिवासी विमर्श में पहली बार आदिवासी समुदाय की बेहतरी एवं बढ़ोत्तरी के लिये आवाज उठाई गई:-

“यह बात सही है कि प्रारम्भ में मार्क्स पूंजीवादी विकास की क्रांतिकारी सम्भावनाओं को लेकर बहुत उत्साहित थे। उन्हें लगता था कि पूंजीवाद औपनिवेशिक समाजों को तबाह तो कर रहा है लेकिन इसी क्रम में वह उन समाजों में नई शक्तियों को भी जन्म दे रहा है। ये नई शक्तियाँ एक आधुनिक समाज को जन्म देगी और इन समाज की सदियों पुरानी जड़ता को तोड़ेगी”3

प्रश्न यह उठता है कि यह आदिवासी विमर्श किस तरह के समाज का प्रतिनिधित्व करता है। क्या इस दुनिया के भीतर इनकी कोई अलग दुनिया है या इन्होंने खुद अपनी अलग दुनिया बना ली। एक सूरत यह भी हो सकती है कि अपनी विषम जलवायु, भौगोलिक परिस्थितियों, रीति-रिवाजों, त्योहारों एवं सांस्कृतिक विरासत, जो इन्हें पंरपरा से मिली थी, को सहेज कर रखने की फिक्र या विवशता ने मजबूरन इनकी दुनिया को अलग कर दिया और अपने ही घर में ये समाज एक अजनबीपन की जिन्दगी जीने को मजबूर हुआ हो। लेकिन इस बेगानेपन के बावजूद उनका अपना निजी इतिहास जरूर होगा। फिर ऐसी क्या मजबूरी थी कि उस इतिहास का जिक्र करने से इतिहासकारों ने हमेशा नजरे चुराई जैसा कि ये पंक्तियां चीख-चीख कर कहती हैं:-

“तुम हमारा जिक्र इतिहास में नहीं पाओगे

क्योंकि तुमने अपने को इतिहास के विरुद्ध दे
दिया है

छूटी हुई जगह दिखे जहां-जहां या दबी हुई
चीखों का एहसास हो

समझना हम वही मौजूद है। ”4

ये दबी हुई चीखें जिन्हें निर्ममता से दबा दिया गया था, ये बताने के लिये पर्याप्त हैं कि कहीं तो कुछ ऐसा हुआ जिसने इस समाज को नुकसान पहुँचाया वास्तव में यह एक गहरी साजिश थी जिसने आदिवासी समाज के गौरवशाली इतिहास को आहत इतिहास में तब्दील कर दिया। उन्हें जानबूझकर मुख्य धारा से परे कर दिया और इसका प्रमुख कारण था उनकी संस्कृति का बहुत ज्यादा उर्वर होना। आदिकाल से ही ये वनों एवं निर्जनो में निवास करने वाली तथा प्रकृति पर बहुत ज्यादा आश्रित जनजाति थी। प्राकृतिक संसाधन बहुतायत मात्रा में इनके यहाँ उपलब्ध थे जिन पर मुख्य धारा के निवासियों ने नजर गड़ाई और उस पर अपने अधिकार को पुख्ता करने के लिये इस आदिवासी समाज के अस्तित्व पर ही सवाल खड़े कर दिया। जैसा हरिराम मीणा ने 'आदिवासी कौन' में स्पष्ट किया है। "सतयुग-त्रेता-द्वापर काल खण्डों में इन आदिवासियों को असुर दैत्य, दानव, प्रेत न जाने क्या-क्या संज्ञाये देकर मनुष्य जाति होने से नकारते रहने का दुष्कर रचा गया।" ⁵

आदिवासी समाज के सामने एक ओर तो अपनी जड़ को बचाने की जद्दोजहद थी, वहीं दूसरी ओर सबसे बड़ी चुनौती अपने अस्तित्व को बचाने के लिये करनी थी। इनको मुख्य धारा से अलग-थलग करने की साजिश थी इसीलिये विद्वान समाज ने इन्हें 'सुर' एवं 'असुर' दो भागों में विभाजित कर दिया। मुख्य धारा से दूर रखने का यह सबसे आसान तरीका था जहाँ किसी भी प्रकार के प्रतिरोध की भी गुंजाइश नहीं थी। समाज से उनका परिचय एक बर्बर, असभ्य, असुर के रूप में कराया गया, जिससे आमजनमानस में उनके प्रति एक 'नकार' का भाव पैदा हो जाये। उनका जिक्र भर आने मात्र से लोगो के मन में घृणा का भाव पैदा हो जाये और बिना किसी प्रयास से उनकी सांस्कृतिक एवं सामाजिक विरासत को खत्म किया जा सके। 'ग्लोबल गांव के देवता' में रणेन्द्र ने यही चिंता व्यक्त करते हुए लिखा है कि -"असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लंबे चैडे काले कलूटे, भयानक दांत-वांत निकले हुए माथे पर सींग-वींग लगे होंगे।

लेकिन लालचन को देखकर सब उलट-पुलट हो रहा था। बचपन की सारी कहानियां उलटी धूम रही थी।" ⁶

औद्योगिकीकरण ने चारो ओर एक उल्लास का वातावरण बनाया और इसी ने आदिवासी समाज की चीखों को भी जन्म दिया। यहीं से इस समुदाय के समक्ष अपनी संस्कृति की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो गया। पूंजीवादी युग ने देशों की सीमाओं को तोड़ दिया और देशों को एक गांव में तब्दील कर दिया। बाजार व्यवस्था ने कच्चे माल की मांग में तेजी पैदा कर दिया अतः सीधे-सीधे वन एवं निर्जन प्रदेशों को निशाना बनाया गया। जिस समाज ने अपने निजी एवं अथाह परिश्रम से इस संस्कृति की रक्षा की थी। अपने ऊपर हुए इस अतिक्रमण से विस्मित रह गया परिणमास्वरूप उसने अपनी आत्मरक्षा के लिये गुहार लगाई पर वह पूंजीवाद की सुनामी में बह गई। मजबूरन उसे प्रतिरोध का सहारा लेना पड़ा। जिसके विरोध में उसे विभिन्न नामों (दस्सु, चोर, डकैत, बर्बर) आदि से नवाजा गया। "आज चारो ओर से एक निश्चित साजिश के तहत आदिवासियों को मुख्य धारा में आने से रोका जा रहा है। यथास्थिति में बनाये रखने के लिये लोग उन्हें "जनजातिय" कहकर लोग उनके आदिवासी होने की अवधारणा को मानने से इंकार करते रहे हैं, वहीं इनके परम्परागत समाज और संस्कृति की व्याख्या अपने अनुरूप कर उन पर अपने विचारों को थोपने लगे।" ⁷ ये वे लोग हैं जो अपनी सभ्यता संस्कृति को श्रेष्ठ बनाकर उन्हें घृणा और हेय दृष्टि से देखते हैं। पिछड़ा असभ्य जंगली दौयम दर्जे का प्राणी मानते हैं।

ऐसा कभी नहीं था कि आदिवासी समाज ने विकास न चाहा हो उसकी आंखों में अच्छी जिन्दगी एवं सुनहरे भविष्य के सपने थे। वह भी अपने समाज एवं संस्कृति को मुख्य धारा में चाहता था। उसे उम्मीद थी कि समय के इस परिवर्तन में उनकी पारंपरिक खानाबदोशी संस्कृति को एक निश्चित आधार मिलेगा, किन्तु मुख्य धारा के लोगो का नजरिया उनके प्रति जस का तस बना रहा और वे इतनी आसानी से अपने परंपरागत पूर्वाग्रहों से मुक्ति नहीं पा सके परिणामतः आदिवासी समुदाय की कठिनाइयां और ज्यादा बढ़ गई। शहरयार की पंक्तियां मौजू हैं:-

“धुँए के बादलों में छुप गये उजले मकां सारे
ये चाहा था कि मंजर शहर का बदला हुआ देखें
हमारी बेहिंसी पे रोने वाला भी नहीं कोई
चलो जल्दी चलो फिर शहर को जलता हुआ
देखें।”⁸

वास्तव में इस शोषण प्रक्रिया का मुख्य कारण था आदिवासी समाज का प्रतिरोध के बिना सब कुछ सहन करना। वास्तव में ये अपने सीमित संसाधनों के साथ खुश थे इन्होंने कभी पलटकर विरोध करने का साहस नहीं किया। ये अपनी ही निजी संस्कृति में मस्त रहने वाले लोग थे। अतः धीरे-धीरे ये जकड़ते चले गये। तो क्या प्रतिकार न करना इनकी मजबूरी थी, या इस समाज का हर हाल में शांतिपूर्ण जिंदगी जीना ही मकसद था। ये सीधे सादे लोग थे, जिन्हें इस व्यर्थ के झंझटों से कोई सारोकार ही नहीं था, किन्तु शोषण इस हद तक बढ़ा कि इनके लिये सारे रास्ते ही बंद हो गये अतः संघर्ष का कारण बना उनका विकल्पहीन हो जाना। ये संघर्ष भी मजबूरी में चुना गया।

“यानी कि हजारों हजार साल से पीछे टूटते-टूटते इस पाट पर/धरती का आखिरी छोर। अब यहाँ से कहाँ ? नष्ट करने की प्रक्रिया तो आज भी जारी है। जमीन और बेटियाँ चुप-चुप, शान्त-शान्त, किन्तु रोज छीनी जा रही हैं।”⁹

शोषण का प्रमुख कारण इस समाज का बहुत ज्यादा अंधविश्वास और धार्मिक मान्यताओं में यकीन करना था। उन्होंने आधुनिक समाज की प्रमुख पहचान अस्पताल, विश्वविद्यालय और लोकतंत्र पर यकीन नहीं किया और इन तीनों ही चीजों से पर्याप्त उदासीन बने रहे। परिणामतः ज्ञान समाज से केन्द्र और परिधि के रिश्ते में अनचाहे ही बंध गये और इसका फायदा मूल समाज ने आसानी से उठाया और सारे कानून, नियम अपने अनुसार, अपने फायदे के लिये गढ़ लिये और इनको लगातार पंगु बनाते रहे। आदिवासी समुदाय की इसी एक मान्यता को संजीव ने ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ में दर्शाया है - “साँप की डसी थी, दुलारी धीया न जलाई जा

सकती थी, न गाड़ी। बड़े-बुढ़े जो कहते हैं वही करना होता है। बनकटा गाँव के बड़े बुढ़ों की राय है कि लाश का परवाह कर दिया जाय। कई बार तो गंगा मइया खुद है खींच लेती है विष और मुर्दा जी उठता है।”¹⁰

आधुनिक समय में आदिवासी समाज की प्रमुख समस्या है उनमें नेतृत्व का अभाव आदिवासी समाज की वस्तुस्थिति को समझकर उनको जोरदार तरीके से समाज के सामने रखने तथा अपनी बात कहने वाले ‘व्यक्तित्व’ का अभाव निरन्तर इस समाज में रहा है अतः मजबूरन उन्हें दूसरो पर यकीन करना पड़ता है और इसी बात का फायदा उठाकर वह व्यक्ति समाज इनका शोषण करता है। लोकतांत्रिक युग में भी आदिवासी समाज मात्र ‘वोट बैंक’ बनकर रह गया उसकी पूंछ सिर्फ चुनाव के समय ही होती है इसके बाद उन्हें कीड़े-मकोड़ों से ज्यादा कुछ नहीं समझा जाता है। “मलाल इस बात का था कि सरकार जब चाहती तभी ऐसा कर सकती थी। मगर उसने उसे तब मारा जब चुनाव में उसने इनके प्रतिद्विन्द्वी का साथ दिया। आज अगर दूसरी पार्टी जीती होती तो पशुराम मारा जाता और प्रेमा पुरस्कृत होता। तो क्या डाकुओं का अभ्युदय संरक्षण और सशक्तीकरण वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था की आंतरिक मांग है ? क्या डाकू उन्मूलन संभव नहीं क्योंकि डाकुओं की शिनाख्त आसान नहीं ? क्या वक्त अंतिम पड़ाव पर खड़ा है यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं।”¹¹

जीवन के हर स्तर पर इनके साथ भेदभाव किया जाता रहा है। इन्हीं की जमीन पर बड़े-बड़े विद्यालय बने पर इनके ही बच्चे यहाँ नहीं पढ़ सकते थे जबकि वह विद्यालय बने आदिवासी समाज के बच्चों की बेहतरी के लिये और उन पर कब्जा है बड़े-बड़े बाबुओं, अफसरों के बेटों को शिक्षा में असमानता के द्वारा इनका मानसिक शोषण होता है। इनको इतनी ही शिक्षा दी जाती है जिससे ये मुख्य समाज में न आये और भूल से आ भी जाते तो सिर्फ क्लर्क, चपरासी ही बने। ग्लोबल गाँव के देवता में रणेन्द्र ने रूमझुम के मुख से कहलवाया है- “आखिर हमारी छाया से क्यो चिढ़ते हैं ये लोग माड़-भात खिलाकर अधपड़-अनपढ़ शिक्षको के भरोसे, फुसलावन

स्कूल के हमारे बच्चे ज्यादा से ज्यादा स्किलड लेबर, पिऊन, क्लर्क बनेंगे और क्या यही हमारी औकात है शिक्षा तक बात नहीं बनती बल्कि नौकरियों में इनके साथ भेद-भाव किया जाता है। इनकी शिक्षा के मुताबिक इनको नौकरी नहीं दी जाती है। जिससे समाज में भी बार-बार इनको जलील होना पड़ता है। नया काम सिखाने के बदले उन्हें बात-बात पर जलील किया जाता था।”¹²

“रूमझुम के संस्कृत आनर्स इतिहास की जानकारी से उनको मतलब नहीं था। वह फील्ड में लेबर के साथ मेठ का काम करना चाहता था तो उसे एकाउंट्स के कैश बुक थमा दिये गये। एकाउन्ट में मन नहीं लगता। गलतियाँ होती तो और जोरदार माईनिंग आफिस का इसे चपरासी भी मजाक उड़ाता और यह बात रूमझुम के दिल पर दिल पर लगती।”¹³

समस्या यह है कि सरकारी योजनाएं तो बनती हैं पर उनका दूर-दूर तक इस समुदाय से वास्ता ही नहीं होता है। बल्कि वो बड़ी-बड़ी कंपनियों के हित में होती हैं और नाम दे दिया जाता है आदिवासी समुदाय के लिये। इसके बाद सबकुछ सभ्य समाज के हिसाब से शुरू होता है। जैसे ही विरोध होता है, एक चादर फैला दी जाती है। जिसे असभ्यता एवं बर्बरता का मुखौटा पहनाया जाता है। तो सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि सबसे पहले अपने साथ नत्थी असभ्य बर्बर जैसे शब्दों से दूरी बनाना जरूरी है -

“यहाँ दुर्गावती जलाशय परियोजना में चोरो आदिवासियों के कई गाँव दूर-क्षेत्र में पड़ रहे थे। विस्थापन मोर्चा ने बाँध के खिलाफ आंदोलन शुरू किया था किन्तु कोर्ट का निर्णय बाँध के पक्ष में आ गया। आंदोलन की कमर टूट गई। विस्थापन अवश्यम्भावी था। अतः पुनर्वास को लेकर हलचल शुरू हुई थी। जीवेश जी और ऋषभ को अपने शोध के लिये मैटेरियल्स यहीं मिलने थे। यही होना था फील्ड सर्वे और जमीनी अध्ययन।”¹⁴

आदिवासी विमर्श यद्यपि थोड़ा देरी से समाज एवं साहित्य में आया और यदि कहा जाये कि अभी इसने अपनी प्रौढ़ा अवस्था को प्राप्त नहीं किया है तो कोई

अतिशयोक्ति नहीं होगी। आज हम आदिवासी साहित्य का समग्र विवेचन करें जो हमें एक सीमित साहित्य ही उपलब्ध मिलता है। इन सबके बावजूद एक अच्छी बात है वह यह है कि आदिवासी विमर्श में कोई प्रतिबंध नहीं है कि सिर्फ आदिवासी समाज के लोग ही आदिवासी विमर्श के बारे में अच्छा लिख पायेंगे उनकी संवेदना को समझ पायेंगे, जैसा कि स्त्री विमर्श और दलित विमर्श के बारे में कहा गया कि ‘पीड़ित व्यक्ति ही पीड़ा को समझ पायेगा’ पर यहाँ ऐसा कुछ नहीं है और यह इस विमर्श की सफलता के लिये बहुत आवश्यक है। आदिवासी समाज की पीड़ा को समझकर सिर्फ सहानुभूति दिखाने भर जरूरत नहीं है, जरूरत है एक ठोस रणनीति के तहत उन पर हो रहे अत्याचारों का डटकर मुकाबला करने की तभी इस विमर्श की सफलता एवं सार्थकता सिद्ध होगी।

जरूरत है तकनीकी विकास के साथ-साथ मनुष्यता को बचाये रखने की जो कि बहुत तेजी से आपके समाज से गुम होती जा रही है सिर्फ नारेबाजी से काम नहीं चलने वाला बल्कि उस त्रासदी को जो सदियों से आदिवासी समाज के साथ बीत रही है कि समझने की जरूरत है, तभी इस समस्या का सही निदान संभव हो पायेगा। शेरजंग गर्ग की पक्तियों में समझे तो:-

“मेरे समाज की हालत सही-सही मत पूँछ
कहाँ-कहाँ से गया टूट आदगी मत पूँछ
हरेक शख्स शामिल है जहाँ नौटंकी में
वहाँ है आदमी ज्यादा या त्रासदी मत पूँछ।”¹⁵

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पुस्तक वार्ता द्वैमासिक पत्रिका, सं0 राकेश श्रीमाल, अंक 48-49, सितम्बर दिसम्बर पृष्ठ-23
2. कथा पत्रिका, सं0 मार्कण्डेय अंक 14 अक्टूबर 2009, पृष्ठ-127
3. साखी त्रैमासिक पत्रिका, सं0 सदानन्द शाही, अंक 18-19 अक्टूबर 08, मार्च 09, पेज-56
4. समकालीन जनमत, सं0 सुधीर सुमन अंक 2 वर्ष 25 मई 06, पेज-42
5. आदिवासी कौन, सं0 रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठ-7

6. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, तृतीय संस्करण 2011 पृष्ठ-11
7. आदिवासी कौन, सं0 रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठ-108
8. दैनिक जागरण, दैनिक अखबार, इलाहाबाद संस्करण वर्ष 2013
9. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, तृतीय संस्करण, नई दिल्ली, पृष्ठ-108
10. जंगल जहाँ से शुरू होता है, संजीव, पृष्ठ-22
11. अनुसंधान, त्रैमासिक शोध पत्रिका, सं0 शगुप्ता नियाज अप्रैल, जून 2014 पृष्ठ-38
12. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, तृतीय संस्करण, नई दिल्ली, पृष्ठ-19
13. ग्लोबल गाँव के देवता, रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, तृतीय संस्करण, नई दिल्ली, पृष्ठ-64
14. रात बाकी व अन्य कहानियाँ, रणेन्द्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 2010, पृष्ठ-10
15. न्यूनवाग्धाररा, सं0 अश्विनीकुमार शुक्ल, डॉ गया प्रसाद सनेही अंक 1, जनवरी मार्च 2010, पृष्ठ-17

संपर्क : शोध छात्र, हिन्दी विभाग, डॉ हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर, म.प्र. मोबाइल- 09179613730

gaur.abhishek12@gmail.com